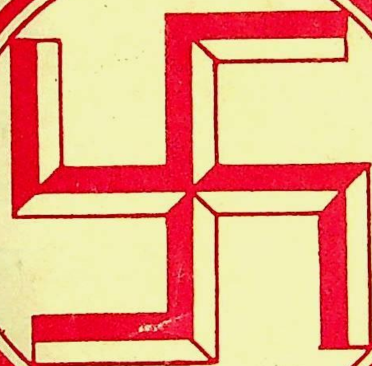
ओ३म्

ईशोपनिषद्



दयानन्द-संस्थान, नई दिल्ली-५

स्तुता मयां वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

अथर्व०१९-७१-१

स्तुति करते हम वेद ज्ञान की,
जो माता है प्रेरक~पालक,
पावन करती मनुज मात्र को।
आयु, बल, सन्तति,-पशु कीर्ति,
धन, मेधा, विद्या का दान।
सब कुछ देकर हमें दिया है,
मोक्ष मार्ग का पावन ज्ञान।

॥ ओ३म् ॥

ईशोपनिषद्



पं० हरिशरण 'सिद्धान्तालंकार' कृत

प्रभावपूर्ण व्याख्या



जन - ज्ञान - प्रकाशन

१५९७ हरध्यानसिंह मार्ग नई दिल्ली-५

जन-ज्ञान-प्रकाशन का ८५वाँ पुष्प

प्रकाशक—
जन-ज्ञान-प्रकाशन
१५९७ हरध्यानसिंह मार्ग
नईदिल्ली—५

दूरभाष-५६६६३९

संपादक—
राकेश रानी



मूल्य ५० पैसे

मुद्रक :
सैनी प्रिण्टर्स
देहली-६

१. प्रभु की सर्वव्यापकता

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

(इदं सर्वम्) यह सब (यत् किञ्च) जो कुछ (जगत्यां जगत्) ब्रह्माण्ड में लोक हैं वे सब के सब (ईशावास्यम्) उस प्रभु से पूर्णतया व्याप्त हैं (तेन) इसलिए हे जीव ! तूने इस संसार का (त्यक्तेन) त्याग भाव से (भुञ्जीथाः) उपभोग करना । (मा गृधः) लालच न करना । (कस्य स्वित् धनम्) भला यह धन किसका है ।

All this, whatsoever there is in the various regions of this universe, is pervaded by God through and through. Therefore enjoy this world without attachment. Do not covet. Remember : whose wealth is it ?

यह सब **यत् किञ्च** जो कुछ **जगत्यां जगत्** जगती में **जगत्** लोक हैं, वे सब के सब **ईश आवास्यम्** उस प्रभु से समन्तात् बसने योग्य हैं । कण २ में वे प्रभु समा रहे हैं । सर्वव्यापक हैं इसीलिए तो वे आंखों से दिखते नहीं । नमक का ढेला जब पानी में लटकाया जाता है तो दिखता है, परन्तु पानी में घुल जाने पर— कण २ में व्याप्त हो जाने पर वह दिखता नहीं । एक स्थान पर था तो दिखता

था, पर व्यापक हो गया तो दिखने से ऊपर उठ गया। इसी प्रकार वे सर्व व्यापक प्रभु भी आंखों का विषय नहीं बनते। इस उदाहरण में जहां पानी है वहां नमक भी है, इसी प्रकार सृष्टि के प्रत्येक कण में प्रभु भी हैं। प्रभु की इस व्यापकता को अनुभव करने पर मनुष्य पाप वृत्तियों से ऊपर उठ जाता है। न वह अपने को अकेला मानता है और ना ही पाप करता है। वह व्यास के इस कथन की सत्यता को अनुभव करता है कि "**एकोहमस्मीति च मन्यसे त्वं न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम्। यो वेदिता कर्मणः पापकस्य तस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि**" अर्थात् मैं अकेला हूं ऐसा तू मानता है। हृदय में निवास करने वाले इस प्रभु को तू नहीं जानता। ये प्रभु तो वे हैं जो तेरे सब पाप कर्मों को जानते हैं, अरे! उन्हीं के समीप तू पाप करता है।

मंत्र का '**जगती**' शब्द ब्रह्माण्ड का वाचक है। इस ब्रह्माण्ड में पिण्ड अर्थात् छोटे २ जगत् तो अनन्त हैं। हमारे लिये उनकी संख्या को पूरा २ जानना सम्भव नहीं। एक सौर लोक एक जगत् है। इस जगती में तो ऐसे सौर जगत् कितने ही हैं। यह जगती की विशालता इस प्रभु की महिमा का व्याख्यान कर रही है।

'तेन' चूंकि वे प्रभु सर्वव्यापक हैं—कण २ में विद्यमान हैं इसलिए ऐ जीव! तू **त्यक्तेन** त्यागभाव से **भुञ्जीथाः** उपभोग करना। विषयोपभोग में न फंस जाना प्रभु ने भाजन का निर्माण '**पालन**' के लिये ही तो किया है '**भुज् पालनाभ्यवहारयोः**' शरीर के पालन के लिए खाना ही भोजन है। आसक्तिपूर्वक मजा तो वही लेने लगता है जो कि प्रभु से दूर हो जाता है। जो यह अनुभव नहीं करता कि प्रभु सर्वव्यापक है और वे मुझे सदा देख रहे हैं। वेद में स्थान २ पर त्यागपूर्वक उपभोग का संकेत है '**केवलाघो भवति केवलादी**' अकेले खाने वाले को तो उल्लिखित शब्दों में वेद में शुद्ध पाप का सेवन करने वाला कहा है!

मा गृधः—तूने इन विषयों का लालच न करना (**गृध्** greed **लालच**) इस लालच से ही तो मनुष्य अधिक खा जाता है। विषयों का स्वाद व सौन्दर्य हमें अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और हम उन विषयों का शरीर-धारण के लिये नहीं अपितु स्वाद के लिए उपभोग करने लगते हैं। उस समय इन विषयों की प्राप्ति के साधनभूत धन को जुटाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य बन जाता है और तब यही धन अन्ततः हमारे '**निधन**' (**मृत्यु**) का भी कारण हो जाता है।

सो यह एक आवश्यक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है कि '**हम वर्त्तमान में इस लालच से कैसे ऊपर उठें?**' इस प्रश्न का उत्तर वेद इस रूप में देता है कि प्रतिदिन यह सोचो कि '**कस्यस्वित् धनम्?**' भला यह धन किसका है? इसने आज तक किसका साथ दिया। यह तो शरीर धारण के लिये साधनमात्र है। यह हमारे जीवन का साध्य थोड़े ही है? "**नैकेनापि समंगता वसुमती मुञ्ज! त्वया यास्यति**" इन शब्दों में वृद्ध मंत्री भोज को कत्ल करने के इच्छुक मुञ्ज से कहते हैं कि 'ऐ मुञ्ज, यह धनों की खान पृथ्वी किसी के साथ नहीं गई, शायद तेरे साथ जाये!" इस पंक्ति ने मुञ्ज की आंखें खोल दीं और वह पाप से विरत हो गया। इसी प्रकार '**कस्यस्विद् धनम्**' का विचार हमारी भी आंखें खोल देगा और हम लोभ से ऊपर उठ सकेंगे। तभी हमारा जीवन त्यागपूर्वक उपभोग वाला अर्थात् हविरूप (**हु दान-अदन**) होगा। इस हविरूप जीवन से ही तो हम प्रभु की सच्ची उपासना करने वाले बनेंगे। हमारा जीवन यह कह रहा होगा कि '**ईशावास्यमिदं सर्वम्**'।

'ईशावास्यम्' का अर्थ परमेश्वर से समन्तात् बसने योग्य तो है ही, उस प्रभु का निवास कण-कण में है (**वस् निवासे**)। साथ ही, **'वस् आच्छादने'** से इस शब्द को बनायें तो अर्थ यह होता है कि 'वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को आच्छादित किए हुए हैं।' हमें भी उस प्रभु का वह अमृतमय आच्छादन प्राप्त है। ऐसी अवस्था में मृत्यु हमारे तक आ ही कैसे सकती है ? मेरा तो वह अमृत प्रभु ही उपस्तरण है, वही अपिधान है। उससे आवृत हुआ-हुआ मैं मृत्युगोचर कैसे हो सकता हूँ ? इस प्रकार एक प्रभुभक्त पूर्ण निर्भीकता अनुभव करता है। उस प्रभु का सर्वत्र निवास उसे पाप भीरु बनाता है तो उस प्रभु का सर्वतः आच्छादन उसे **'मृत्यु से भी न डरने वाला वीर'** बनाता है। एवं **'ईशावास्यमिदं सर्वं'** का अनुभव करने वाला **'भीरु'** भी है और **'वीर'** भी। पाप से डरता है तो मृत्यु से निडर भी है।

'ईश' शब्द मन्त्र का प्रथम शब्द है, जो स्वामित्व का प्रतिपादन करता हुआ मन्त्र की अन्तिम भावना **'कस्यस्विद् धनम्'** का पोषण कर रहा है। **'धनम्'** यह सम्पूर्ण धन **स्वित्** निश्चय से **कस्य** उस अनिर्वचनीय प्रभु का है। ऐ जीव ! तू क्यों इसका अहंकार कर रहा है ! धन का वास्तविक मालिक तू नहीं। ईश तो प्रभु हैं, तेरा क्या स्वामित्व ! तू अपने को ईश मान बैठता है, लालच वश इसे निर्मर्यादिरूप में जुटाता है, और तब वे प्रभु, इन प्रभुमानी पुरुषों की पुष्ट संपत्तियों को एक भूकम्प के धक्के के समान नष्ट कर देते हैं, **'अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति'**। यह धन लक्ष्मी-प्रभु (**विष्णु**) की ही पत्नी है। जीव की तो यह माता है, सो जीव ने इसका स्तन्य-पान तो करना है, उपभोग नहीं। यही अनासक्तिपूर्वक वस्तुओं का प्रयोग ही मन्त्र का मुख्य आदेश है।

प्रभु दर्शन से इसका तम (अन्धकार) विदीर्ण (**नष्ट**) होकर यह **'दीर्घ'** (**विदीर्ण**) तम कहलाता है प्रभु का निरन्तर ध्यान करने से यह **'दध्यङ्'** है और बाह्य विषयों में आसक्त न होकर अन्दर ध्यान करने से आथर्वण है (**अथ-अर्वाङ्**)।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का हम अनुभव करें। त्यागपूर्वक प्रकृति का उपभोग करें, लोलुपता से दूर रहें। सदा विचारें कि भला धन किसका है ? यह विचार हमें आसक्ति से बचायेगा।

२. क्रियामय दीर्घ जीवन

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(कुर्वन्नेव) कर्मों को करते हुए ही (इह) इस लोक में तूने (शतं समाः) सौ वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की कामना करना। (एवं त्वयि) तेरे विषय में ऐसा ही निश्चय है। (इतः अन्यथा) इससे और प्रकार का मार्ग (न अस्ति) तेरे लिए नहीं है। (न कर्म लिप्यते नरे) नर मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होता।

Performing, verily, your duty in this world you should desire to live a full hundred years. This alone is required of you, for there is no other right path for you. Action clingeth not such a man.

प्रस्तुत मंत्र में प्रभु आदेश करते हैं कि (१) **इह** इस लोक में तथा इस मानव-जीवन में **कर्माणि** कर्मों को **'कुवन् एव'** करते हुए ही तूने जीना है। (क) संसार का नियम ही **'क्रिया'** है यह **'संसार'** है, **'संसरति'** निरन्तर चल रहा है। **जगत्** है **गति** में है। कार्लाइल के शब्दों में "What is this universe rout an infinite conjugation of the verb to do" यह संसार 'कृ' (करना) धातु के विविध रूपों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इस गतिमय संसार में अकर्मण्य होने का क्या मतलब ? (ख) अकर्मण्यता विनाश व ह्रास से सम्बद्ध है। 'जो पानी खड़ा वह सड़ा' यह प्रसिद्ध ही है। **'पुष्पिण्यौ चरतो जंघे'** चलने वाले की ही जाँघें पुष्ट होती हैं। इन्द्र ने रोहित को यही तो उपदेश दिया कि **'चरैवेति चरैवेति'** गतिमय रह और गतिमय ही रह। (ग) मनुष्य **'आत्मा'** है—अत सातत्य गमने निरन्तर गति (constant motion) वाला है। क्रियाशीलता के अभाव में तो वह 'ख' अपने मन को ही खो देता है (२) प्रभु का दूसरा आदेश है कि **'शतं समाः'** सौ वर्ष पर्यन्त **'जिजीविषेत्'** जीने की कामना करे। जितना दीर्घजीवी बन सके उतना ही बन। इस दीर्घजीवन के लिये क्रिया-शीलता साधन है। मनुष्य खाट पर पड़ता है तो पड़ ही जाता है, यह उक्ति भूलनी न चाहिए। (३) एवं प्रभु ने उपरोक्त दो आदेश देकर कहा कि **एवं त्वयि'** तेरे विषय में ऐसा ही निश्चय है। **इतः** इससे अन्यथा और प्रकार का कोई मार्ग (**न अस्ति**) तेरे लिये नहीं है। 'कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीना' ही तेरे जीवन का एक मात्र नियम है।

इस पर जीव सोचता है कि (क) इतना लम्बा जीवन क्या करूंगा ? जितना जीवन लम्बा होगा उतने अधिक ही पाप होंगे। पैदा होते ही चला गया बालक अहोभाग्य है कि उससे कोई पाप तो नहीं हुआ (ख) और कर्म करना भी तो भय से रहित नहीं है। कर्म का फल भोगना होगा, फल भोगने के लिए शरीर लेना पड़ेगा।

ऐसे विचारों के उत्पन्न होने से कुछ उदास हुए जीव से प्रभु कहते हैं कि अरे दीर्घ जीवन होगा तो पाप ही क्यों अधिक होंगे ! ऐसा भी तो है कि तू प्रतिवर्ष एक २ ऋतु (यज्ञ) करे और सौ वर्षों के दीर्घ जीवन में तू **'शत-ऋतु'** ही बन जाये। और कर्म के बन्धन से भी तू क्यों भयभीत होता है ? चूंकि **'नरे'** नर में **कर्म न लिप्यते** कर्म लिप्त नहीं होता। नर मनुष्य कर्म के लेप से ऊपर है। **'नर'** वह है जो **न रमते** इन कर्मों में उलझ नहीं जाता। न रम जाना न फंस जाना ही नर का धर्म है। वि-रत होकर कर्त्तव्य को करते जाना ही मार्ग है। इस से चलने वाला लिप्त नहीं होता। उदाहरणार्थ सन्तान को भी प्रभु व राष्ट्र की समझ पालते जाना ही नर बनना है ! ऐसा मनुष्य न ममत्व करता है—न दुःखी होता है। वही अनासक्ति से कर्म करना है। **'विरति'** वैराग्य बन्धन से बचाती है। मैं कर्म को न चिपटूं तो कर्म भी मुझे क्यों चिपटेगा ? **'अनाश्रितः कर्मफलं'** इस गीता वाक्य के अनुसार हम कर्मफल का आश्रय छोड़ कर कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करेंगे तो बन्धन न होगा।

एवं हमें इस संसार में नर बन कर अनासक्तिपूर्वक कर्म करते चलना है और अवश्य सौ वर्ष तक जीना है। "मैं पापी हो जाऊँगा—कर्म मुझे बांध लेंगे' इस अज्ञान को नष्ट करके यह **व्यक्ति 'दीर्घतमा'** बना है। सदा अपने लक्ष्य को आंख से ओझल न करने के कारण यह **'दध्यङ्'** है। फलासक्ति न रहने **से यह डावांडोल** नहीं होता **सो 'आथर्वण' (न थर्वति—डावांडोल नहीं होता) हो गया है।**

'नर' बनने के लिये यह विचार बड़ा सहायक होता है कि **'एकः प्रजायते जन्तुः एक एव विलीयते'** (मनु) अकेला ही प्राणी आता है और अकेला ही जाता है। वृक्ष की छाया में यात्री इकट्ठे होते हैं और थोड़ा विश्राम करके चल देते हैं। बस इसी प्रकार हम परिवार में इकट्ठे होते है और कुछ देर में अलग-अलग होने लग जाते हैं। सो **'मेरा'** या ममत्व का यहां प्रश्न ही नहीं।

भावार्थः—हम प्रभु के इन दो आदेशों को सदा स्मरण रखें कि **'सदा कर्मशील रहो'** और **'सौ वर्ष जीने की कामना करो'**।

३. आत्मघात

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ये के च) जो कोई भी (आत्महनो जनाः) आत्मघाती लोग होते हैं (ते) वे (प्रेत्य) मृत्यु के अनन्तर (तान्) उन लोकों की ओर (अभिगच्छन्ति) जाते हैं (ते लोका) जो लोक कि (असुर्या नाम) असुरों के लिये हितकर होने से 'असुर्य' इस नाम वाले हैं और (अन्धेन तमसा) घोर अन्धेरे से (आवृताः) आच्छादित हैं।

Those people, who are slayers of their own soul, go, after death, towards those regions which are fit for Asuras (sub-human creatures) and are enveloped in pitched darkness

प्रथम व द्वितीय मंत्र में निम्न बातें कही गई हैं:—(१) प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करना (२) त्यागपूर्वक उपभोग करना (३) लालच नहीं करना (४) प्रतिदिन इस प्रश्न का विचार करना कि 'भला धन किसका है ?' (५) जीवन को सदा क्रियामय रखना और नर बनकर काम करना—आसक्ति से ऊपर उठकर (६) तथा सौ वर्ष जीने की प्रबल भावना रखना—तदनुसार ही जीवन को ढालना।

ये छः बातें ही आत्मोन्नति का मार्ग हैं। इसी पर मनुष्य को चलने का प्रयत्न करना है। जो व्यक्ति इन बातों का ध्यान न करके (१) प्रभु को स्मरण नहीं करता वह अपने को अकेला समझ व्यसनों के प्रलोभन से नहीं बच पाता। (२) भोग ही उसके जीवन का लक्ष्य हो जाता है—अपने ही प्राणों व जीवन में रमा रहता है। **'असुषु रमन्ते'** असुर बनकर अपने ही मुख में आहुति देता है **'स्वेषु आस्येषु जुह्वतश्चेरूः'** इसके जीवन में त्याग का कोई स्थान नहीं होता (३) इसकी लोलुपता उत्तरोत्तर बढ़ती है (४) वह समझता है कि धन का वही मालिक है, धन को उससे कौन छीन सकता है ? (५) धन की वृद्धि करके यह अपने जीवन को आरामपसन्द बना लेता है इसका जीवन क्रियाशील नहीं रहता और इस प्रकार अनजाने में क्षीण शक्ति होता जाता है। (६) सौ वर्ष जीने की तो कल्पना करके भी यह कई बार व्याकुल हो जाता है। वृद्धावस्था की तकलीफों की कल्पना करके ही घबरा उठता है। इसके जीवन का ध्येय संक्षेप में यही रह जाता है (eat, drink and be merry) खाओ पियो और मोज करो। यही व्यक्ति 'आत्महन्' है—यह आत्मा का घात कर रहा है। प्रभु की ओर न जाकर अन्तन्तः प्रकृति के पांवों तले यह रौंदा जाता है।

ये के च आत्महनो जनाः—जो कोई भी आत्महन् लोग होते हैं ते **वे प्रेत्य** इस शरीर से प्रयाण करने के अनन्तर **तान्** उन लोकों के **अपि गच्छन्ति** ओर जाते हैं जो लोक कि इस प्रकार की असुरवृत्ति वाले लोगों के लिए हितकर हैं। (असुर+य) **ते लोका** वे लोक **असुर्याः नाम** असुर्य (असुरों के लिये हितकर) इस नाम वाले हैं। ये लोक **अन्धेन तमसाः** घने अन्धेरे से **आवृताः** आच्छादित हैं। इन लोकों में प्रकाश नहीं। पशु देखते हैं **(पश्यन्ति)** समझते थोड़े ही हैं। मेमना कितना नासमझ है। वध के लिए उठाये गये वधिक के हाथ को भी चाटता है चूंकि उस हाथ से उसे घास जो मिलता रहा है। वृक्ष इत्यादि तो एकदम अन्तःसंज्ञ ही हैं। उनकी तो चेतना पूर्णतया लुप्त-सी ही है। ये ही योनियां **'असुर्य'** हैं। केवल प्राणपोषण में रत लोगों के लिये भोग-योनियां ही उपयुक्त हैं। सो प्रभु इन आत्महन् असुरों को इन्हीं योनियों में जन्म देते हैं। इनमें रहते हुए वे भोग भोगने में रत रहते हैं। ये लोक **अन्धतमस व** अज्ञान से आवृत हैं। इनमें ज्ञान का नितान्त अभाव है, यहाँ कर्त्तव्य ही नहीं है, सो कर्त्तव्या-कर्तव्य के विवेक का प्रश्न ही नहीं उठता।

सम्भवतः, इन भोगों के भोग से रजकर—या इस प्रसुप्त-सी अवस्था में पिछले संस्कारों को भूलकर ये चिरकाल पश्चात् फिर मानव जीवन को प्राप्त करेंगे और एक बार इन्हें आत्मोन्नति के मार्ग पर फिर चलने का अवसर प्राप्त होगा।

भावार्थः—हम आत्मोन्नति के मार्ग का अनुसरण करें। कहीं 'आत्महन्' न बन जायें। आत्महन् बनने पर तो असुर्य लोकों में ही हमारा जन्म होगा।

४. निरभिमानिता

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

वे सर्व व्यापक प्रभु (एकं) एक हैं और (न एजते) बिल्कुल हिल नहीं रहे (मनसो जवीयः) पर मन से भी अधिक वेगवान् हैं। (एतत्) इस प्रभु को (देवा-न आप्नुवन्) देव नहीं पकड़ पाते क्यों कि वे प्रभु तो (पूर्वम्) पहिले ही (असत्) पहुँचे हुए हैं अर्थात् गन्तव्य स्थान पर विद्यमान हैं। (तद्) वे प्रभु (तिष्ठत्) ठहरे ही (धावतः अन्यान्) दौड़ते हुए दूसरों को (अत्येति) लांघ जाते हैं। (मातरिश्वा) मातृगर्भ में बैठने वाला यह जीव भी (तस्मिन्) उस प्रभु में ही (अपः) कर्मों को (दधाति) धारण करता है।

God is one and motionless but all the same swifter than the mind. The Devas could not overtake Him because, being all pervading He is present beforehand at the destination point. Due to His omnipresence, He, though stationary, goes faster than others who run. It is in Him that the individual soul developing in the mother's womb engages in the various activities.

गत मन्त्र की फलश्रुति के बाद प्रस्तुत मन्त्र में सर्वव्यापकता की भावना का ही प्रकारान्तरेण वर्णन प्रारम्भ होता है—वे प्रभु अनेजत् **(न एजत)** बिल्कुल हिल

नहीं रहे। खाली स्थान हो तो हिला जाय? जब वे सर्वव्यापक हैं, तो हिलें ही कैसे? सर्वव्यापक न होते हुए भी तो किसी और से स्थान भरा होने के कारण **'न हिलना'** हो सकता है। सो कहते हैं, कि **'एकं'** वे हैं तो एक। **'एक होते हुए न हिलना तभी हो सकता है'** जबकि वह सर्वव्यापक हो।

मनसो जवीयः—वे प्रभु मन से भी अधिक वेगवान् हैं। मन सर्वाधिक वेग वाला है। एक सैकण्ड में एक लाख छयासी हज़ार मील के करीब इसकी गति है। प्रभु इस मन से भी अधिक वेगवान् हैं। वास्तविकता तो यह है कि **एनत्** इस प्रभु को **देवाः** देव **न आप्नुवन्** नहीं पकड़ पाते। देवों की दौड़ के साम्मुख्य में सब देव इससे पीछे रह जाते हैं, प्रभु जीत जाते हैं। चूंकि जीत का **अभिप्राय** यही तो है कि **'विजय-स्तम्भ** पर पहले पहुँच जाना'। और प्रभु तो पूर्वम् पहले ही **अर्षत्** वहाँ पहुँचे हुए हैं। सर्वव्यापक होने के कारण वे कहाँ नहीं हैं?

तद्, वे प्रभु **धावतः अन्यान्,** दौड़ते हुए दूसरों को **अत्येति,** लांघ जाते हैं—उनसे आगे निकल जाते हैं। और खूबी यह है कि **तिष्ठत्** ठहरे-ठहरे ही। बिना गति किये लाँघ जाना इसलिए तो है कि जहाँ भी पहुंचना है प्रभु वहां पहले से ही हैं। एवं वे प्रभु सर्वव्यापक तो हैं ही, सौन्दर्य की बात तो यह है कि गतिशून्य होते हुए भी सर्वाधिक गतिमान् हैं। ठहरे हुए भी दौड़ते हुओं से आगे निकल जाते हैं। ठीक-ठीक बात तो यह है कि गतिशून्य होते हुए सबको गति दे रहे हैं। गति के स्रोत हैं।

मातरिश्वा—मातृगर्भ में बढ़ने वाला यह जीव भी **तस्मिन्** उस प्रभु में ही **अप**=कर्मों को **दधाति**=धारण करता है। इसकी भी सारी गति उस प्रभु की शक्ति से ही हो रही है। जीव को तो यह भ्रम हो जाता है कि उसकी अपनी शक्ति है। जैसे ट्राम बिजली से चल रही है, परन्तु संचालक (Conductor) को यह भ्रम हो जाता है कि मैं चला रहा हूं। वस्तुतः इतना ही सत्य है कि चालक चाहे उसे पूर्व में ले जाए और चाहे तो पश्चिम में। परन्तु बिजली रुकी, तो न अब पूर्व में ट्राम चलेगी और न पश्चिम में। अब चालक को अनुभव होता है कि चालक शक्ति मेरी नहीं। इसी प्रकार जीव को अन्त में अनुभव होता है कि कोई और ही शक्ति है जिससे कि यह शरीर रूप यन्त्र भी चलाया जा रहा है **'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'** इस गीता वाक्य के अनुसार प्रभु ही अपनी शक्ति से यन्त्रारूढ सब प्राणियों को घुमा रहे हैं। तत्त्वद्रष्टा देखता है कि प्रभु ही चला रहे हैं, मैं तो निमित्त-मात्र हूं। सो मैंने क्या गर्व करना?

परन्तु प्रश्न तो यह है कि ऐसा है तो प्रभु पूर्व व पश्चिम में भी जाने की स्वतन्त्रता क्यों देते हैं? अर्थात् प्रभु अपनी शक्ति देकर जीव को उसका स्वतन्त्र प्रयोग क्यों करने देते हैं? प्रभु की पूर्ण अधीनता में ही क्रिया होगी तो ठीक ही होगी और परिणामतः कष्ट न होगा।

यह बात ठीक है। परन्तु यह बात ऐसी है कि यदि अध्यापक ही गणित के प्रश्न में प्रत्येक अंक स्वयं लिखाते जायें तो प्रश्न तो ठीक ही निकलेगा पर क्या कभी विद्यार्थी को प्रश्न निकालना आएगा? स्पष्ट है कि **'नहीं'**। इसी प्रकार जीव की योग्यतावृद्धि के लिए उतना स्वातन्त्र्य आवश्यक ही है। पर इतनी स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी यह सत्य तो सत्य है ही कि प्रभु की शक्ति से यह सारा ब्रह्मांड गतिमय है। **जीव को इस गति के देने वाली शक्ति का गर्व नहीं करना चाहिए।**

भावार्थ—हम प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करें। कण-कण में उसकी शक्ति को काम करता हुआ समझें और गर्व से ऊपर उठें।

५. वह परावर प्रभु

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।

(तद् एजति) वह प्रभु गति करते हैं और (तत् न एजति) वे गति नहीं करते। (तत् दूरे) वे दूर हैं और (तद् अन्तिके) वे समीप भी हैं। (तद् अस्य सर्वस्य अन्तः) वे इस सारे ब्रह्माण्ड के अन्दर हैं। और (तद् उ अस्य सर्वस्य बाह्यतः) बाहर भी हैं।

God moves and he moves not; He is far and He is near; He is within all this and He is also outside all this.

प्रस्तुत मन्त्र प्रभु की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन करता हुआ काव्य की दृष्टि से विरोधाभास अलंकार का बड़ा सुन्दर उदाहरण है। कहते हैं कि **तद्** वे ब्रह्म **एजति** गति करते हैं और **तत् न एजति** वे गति नहीं करते। ये दोनों वाक्य स्पष्ट ही परस्पर विरोधी अर्थ वाले प्रतीत होते हैं, परन्तु यह विरोधाभास परिहृत हो जाता है, जबकि प्रथम वाक्य में प्रेरणार्थक धातु मान कर (अन्तर्भावितण्यर्थ) हैं। अर्थ यह कर देते हैं कि प्रभु सारे ब्रह्मांड को गति दे रहे हैं। **एजति एजयति** शरीर चलता प्रतीत होता है, परन्तु यह सब गति **अन्तस्थित** आत्मतत्त्व के ही तो कारण है, सो आत्मा ही तो गति दे रहा है। इसी प्रकार सारे ब्रह्माण्ड की आत्मा वे प्रभु हैं—उन्हीं से यह सारी गति दी जा रही है। परन्तु सर्व-व्यापक होने के नाते वे स्वयं तो गतिशून्य हैं। वे कहां जावें और कहाँ आवें—वे तो पहले से ही सब स्थानों में विद्यमान हैं।

तत् दूरे—वे प्रभु दूर से दूर हैं, **तद् उ अन्तिके** और वे समीप से समीप हैं। दूर भी हैं--समीप भी। इस प्रकार विरोध का आभास होता है, परन्तु अभिप्राय इतना ही है कि सर्वव्यापक होने के कारण हम कल्पना से जितनी भी दूर पहुंच सकते हैं प्रभु वहाँ हैं ही और हमारे अन्दर भी होने से समीप से समीप भी हैं। पर से पर तथा अवर से अवर होने से ही प्रभु का नाम **'परावर'** है।

तत्—वे प्रभु **अस्य सर्वस्य**—इस सारे ब्रह्माण्ड के **अन्तः** अन्दर हैं और **तद् उ**—वे प्रभु ही **अस्य** इस सर्वस्य सारे जगत् के **बाह्यतः** बाहर भी हैं। अन्दर होते हुए वे प्रभु अन्तर्यामी हैं तथा बाहर होने से सबको आच्छादित करके सुरक्षित कर रहे हैं। अन्दर व्याप्ति की भावना **'वस् निवासे'** धातु के द्वारा 'ईशावास्यम्' शब्दों से व्यक्त हुई है तथा **'वस आच्छादने'** धातु से गर्भ में सुरक्षित रखने की भावना व्यक्त हो रही है।

भावार्थ—प्रभु दूर से दूर व समीप से समीप हैं। अन्दर व बाहर सर्वत्र व्याप्त हैं।

६. सन्देह और घृणा से दूर

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति

(यः तु) जो तो (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों को (आत्मनि एव) उस सर्वव्यापक, प्राणतत्त्व में ही (अनुपश्यति) अपने स्वरूप को देखने के साथ देखता है (च) और (सर्वभूतेषु) सब प्राणियों में (आत्मानं) परमात्मा को देखता है (ततः) फिर (न विचिकित्सति) किसी प्रकार का सन्देह नहीं करता।

He who after realising himself sees all creatures in that all pervading Atma and also that Atma in all creatures, his doubts are totally removed.

प्रभु की सर्वव्यापकता—अन्दर बाहर सर्वत्र उसकी सत्ता का अनुभव करने वाला व्यक्ति सब प्रकार के **संदेह व घृणा से ऊपर उठ जाता है**। इस बात को प्रस्तुत मंत्र इन शब्दों में कहता है कि '**यस्तु** जो तो **सर्वाणि भूतानि** सब प्राणियों को **आत्मनि** उस सर्वव्यापक आत्मतत्त्व में एव ही **अनुपश्यति** अपने स्वरूप को देखने के साथ देखता है, **च** और **सर्वभूतेषु** सब प्राणियों में **आत्मानं** परमात्मा को देखता है **ततः** फिर **न** '**विचिकित्सति**' किसी प्रकार का सन्देह नहीं करता है। '**विचिकित्सति**' का पाठान्तर '**विजुगुप्सते**' शब्दों से कहा गया है। संदेह ही घृणा के रूप में प्रकट होती है। मैं ट्रेन में सफ़र कर रहा हूं। मेरे समीप व्यक्ति बैठा है और मैं उसे भी अपनी तरह एक आदमी के रूप में देख रहा हूँ। मुझे किसी प्रकार की शंका नहीं, ना ही घृणा है। पर इतने में किसी बात से मुझे उसके भंगी व मेहतर होने का ध्यान होता है। इस ध्यान के होते ही मुझे अपने अपवित्र होने की शंका होने लगती है और उस मनुष्य से घृणा। मैं अब उसे मनुष्य के रूप में न देखकर भंगी के रूप में देखने लगता हूं। दूसरा उदाहरण देखिये:— मैं खोये का लड्डू खा रहा हूं—बड़ा प्रसन्न हूं। अचानक एक काली-२ चीज़ मुझे दीखती है। मुझे मक्खी होने का शक होता है। घृणा-सी हो जाती है। जी मचलने लगता है। मेरे आतिथेय (Host) समीप आकर जानना चाहते हैं कि क्या है? देखकर कहते हैं कि यह तो छोटी इलायची है। मैं भी ध्यान से देखता हूं। हां, है तो इलायची। शक गया, घृणा गई।

प्रभु का दर्शन हमें शक व घृणा से ऊपर उठा देता है। घृणा तो सबको मनुष्य के रूप में देखने से ही नहीं रहती और यदि हम प्रत्येक प्राणी को प्रभु के निवास स्थान के रूप में देखने लगें तब तो आदर व प्रेम की भी भावना ही जाग उठे। एक व्यक्ति गुरुद्वारे के सामने क्यों झुकता है? साथ वाले मकान के सामने क्यों नहीं झुकता? केवल इसी लिए कि गुरुद्वारे को वह प्रभु का निवास स्थान समझता है। प्रभु का निवास स्थान समझ कर जैसे वह एक स्थान को आदर देता है, इसी प्रकार सब भूतों में प्रभु को देखने वाला सब भूतों से प्रेम करता है। यह उन्हें आदर से देखता है। उसके भंगी होने के भ्रम को दूर करके अब वह उसे भी प्रभु मन्दिर रूप में देखता है। **विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः**। इस गीता वाक्य के अनुसार पण्डित सब में समरूप से अवस्थित प्रभु को ही देखते हैं। यह सर्वत्र प्रभु दर्शन ही सच्चा वेदान्त है। ऐसा देखने वाला व्यक्ति निर्भीक व निर्घृण होता है। घृणा से ऊपर उठा हुआ यह प्रेम का पुञ्ज ही बन

जाता है। इसका ज्ञान सब उपाधियों से ऊपर उठा हुआ है। सो वह सचमुच 'दीर्घ-तमा' दूर हुए हुए अन्धकार वाला हो गया है।

भावार्थः—हम प्रभु को सब में और सब में प्रभु को देखें यही 'तत्त्वज्ञान' है। यही संदेह व घृणा से ऊपर उठने का साधन है।

७. एकत्व का दर्शन

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(यस्मिन्) जिस समय (विजानतः) विशिष्ट ज्ञानी के लिये (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (आत्मा एव) आत्मा ही (अभूत्) हो जाते हैं (तत्र) उस स्थिति में (एकत्वमनुपश्यतः) एकत्व को देखते हुए के लिए (कः मोह कः शोकः) क्या तो मोह और क्या शोक अर्थात् वह शोक मोह से ऊपर जाता है।

When for the one who has realised himself all beings become Atma, there is no attachment or grief for him as he sees oneness everywhere.

मनुष्य सुनकर व पढ़कर यह जान ही जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ। यह शरीर तो एक वस्त्र के समान है। 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' इस गीता वाक्य के अनुसार मृत्यु वस्त्रपरिवर्त्तन मात्र ही तो है। परन्तु व्यवहार में आकर उसे यह बात भूल जाती है। और वह यही कहने लगता है कि 'मैं बीमार हो गया, पतला हो गया।' इस प्रकार उसका ज्ञान उथला ही प्रमाणित होता है। यह 'विजानन्' पुरुष तो आत्मस्वरूप को समझता है, आत्मस्वरूप को समझने के साथ अपने सतत सखा 'प्रभु' को अन्दर बाहर सर्वत्र व्याप्त अनुभव करता है।

इस विजानतः विशिष्ट ज्ञानी पुरुष के दृष्टिकोण में प्रभु ने सबको व्याप्त किया हुआ है। 'प्रभु सब में हैं, सब में प्रभु हैं' यह तो यही देखता है और इस प्रकार देखने के कारण वह परमात्मा ही परमात्मा को देखता है। हार की मणियों को न देखकर वह ओतप्रोत सूत्र को ही देखता है। सो वह सर्वत्र समवस्थित परमेश्वर को ही देखने के कारण सब भूतों में आत्मभाव रखता है। और जब यह सब भूत उस प्रभु में हैं तो उससे अलग हो ही कैसे सकते हैं। मंत्र के शब्दों में तो **यस्मिन्** जिस समय इस 'विजानन्' की दृष्टि में **सर्वाणि भूतानि** सब भूत (प्राणी) **आत्मा एव** आत्मा ही **अभूत्** हो जाते हैं, तब उस स्थिति में **एकत्वम्** एकत्व को **अनुपश्यतः** देखते हुए **को मोहः** क्या तो मोह? और **कः शोकः** क्या शोक? यह विजानन् पुरुष शोक मोह से ऊपर उठ जाता है।

सब आत्माओं का निवास परमात्मा में है और परिणामतः वे हैं तो सही, पर परमात्मा से पृथक् स्थान में नहीं। मेरे शरीर में रहते हुए लाखों कृमि मेरी 'मैं' में ही समाविष्ट हो जाते हैं। 'एक ट्रंक ही है, ऐसा हम कुली से कहते हैं तो क्या ट्रंक के अन्दर कपड़े बर्तन व पुस्तक नहीं होते? हैं, पर वे ट्रंक से भिन्न थोड़े ही हैं? एक पहलवान से चुंगी वाला ५ सेर घी पर तभी तक चुंगी मांगता है जब तक कि वह उसे पी नहीं लेता। पी लेने पर तो घी अलग नहीं रहा। वह तो पहलवान में ही समा गया, सो चुंगी का प्रश्न ही नहीं रहता। गंगा जब तक समुद्र में नहीं मिली तब तक गंगा और समुद्र में मिलते ही गंगा नाम समाप्त है और समुद्र ही

रह जाता है। इसी प्रकार सब आत्माओं को परमात्मप्रविष्ट रूप से अनुभव करने पर सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं। इस एक आदर्श में शोकमोह का स्थान नहीं है।

'द्वितीयाद्वै भयं भवति' भय तो दूसरे से ही होता है। अद्वैत में तो अभय ही अभय है। 'अथो परमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' जब नाम मात्र भी भेद करता है तभी तो भय होता है। भेद समाप्त भय समाप्त। यहाँ भारत में वह समय था कि 'हिन्दू मुसलिम' एक थे। जामा मसजिद की वेदि से स्वामी श्रद्धानन्द उपदेश कर रहे थे। उस समय कितना प्रम था कितनी निर्भीकता। १९४७ में हिन्दू मुसलमान दो हो गये। उत्तरी ध्रुव व दक्षिणी ध्रुव की तरह विरोधी हो गये। तब किस प्रकार एक दूसरे से डरे और किस प्रकार एक दूसरे को समाप्त करने में कल्याण समझने लगे? प्रान्तीय व देशभक्ति द्वैत भावना को पैदा करने के कारण भयजनक हैं। विश्व की 'नागरिकता' व ऐक्य भावना ही मानवकल्याणकारिणी है। पति पत्नी मिलकर एक हो जाते हैं तभी शं[illegible] भय दूर होकर वास्तविक प्रेम उत्पन्न होता है। पुत्र भी उनको ही जोड़ने का कारण बनता है और ऐक्य भावना को बढ़ाकर गृह की एकता व शान्ति को बढ़ाता है।

एवं अद्वैतानुभव ही कल्याण है। यही वास्तविकता है। इसको जानकर ही विजानन् पुरुष शोकमोह से अतीत होता है। यह वास्तविकता तो है ही, पर लाभ तभी होता है जब हम इसे जान लें। मेरी जेब में रुपये हैं। पर मुझे उनके होने का ज्ञान न हो तो वे मेरे लिये उपयोगी नहीं हो सकते। इसी प्रकार यह सब आत्मा ही है, ऐसा अनुभव ही मुझे अभय करेगा।

भावार्थः—जीवात्मा व परमात्मा दो सत्तायें हैं। परन्तु सब जीव प्रभु में हैं, सो पृथक् स्थान में न होने से सब आत्मा ही आत्मा है। ऐसा अनुभव करके ही हम 'शोकमोह' से अतीत होंगे।

८. व्यापक व शुद्ध (प्रभु)

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(सः) वे प्रभु (परि अगात्) चारों ओर गये हुए हैं (शुक्रम्) अत्यन्त उज्ज्वल हैं (अकायम्) शरीर रहित हैं (अव्रणम) व्रणादि से रहित हैं। (अस्नाविरम्) नस-नाड़ियों से शून्य हैं (शुद्धम्) पूर्ण शुद्ध हैं और (अपापविद्धम्) पाप से विद्ध नहीं होते (कविः) प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जानते हैं (मनीषी) पूर्ण ज्ञानी हैं (परिभूः) चारों ओर सर्वत्र होने वाले हैं (स्वयम्भूः) स्वयं होने वाले हैं। (शाश्वतीभ्यः) अनादिकाल से (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (याथातथ्यतः) ठीक-ठीक (अर्थान्) सब बातों व चीजों का (व्यदधात्) संपादन करते हैं।

He (God) is all pervading, brights bodiless, scatheless, without muscles, pure, unpierced by evil wise omniscient transcendent and self existing. He has been making adequate provision for the requirements of His creation since eternity.

सः—वे प्रभु **परि अगात्**—चारों ओर (पहले से ही) गए हुए हैं। वह कौन-सा स्थान है जहाँ कि प्रभु नहीं हैं। सर्वव्यापक होने के कारण ही वे प्रभु **शुक्रम्** (शुच् दीप्तौ) अनन्त दीप्त व उज्ज्वल हैं। जो चीज़ जितनी व्यापक होती है उतनी ही उज्ज्वल हो जाती है—संकुचित होकर वह अपवित्र और मलिन हो जाती है। दान को ही देखिये। विश्व के हित के लिए दिया गया दान हमारे यश को विश्व में फैलाता है तो अपनी बिरादरी के लिए दिया हमारे यश को बिरादरी तक ही सीमित कर देता है। वे प्रभु अत्यन्त व्यापक हैं—वे प्रभु सर्वव्यापक हैं—वे सभी के हित के लिए कार्य करते हैं—अतएव वे पूर्ण शुद्ध हैं।

वे प्रभु सर्वव्यापक न होते, तो उनके देश विशेष में होने के कारण उनकी भी कोई बाह्यरेखा होती। यही उनकी आकृति व काया हो जाती। पर प्रभु तो सर्वव्यापक हैं **अकायम्**—शरीर रहित हैं। शरीर रहित होने से ही **'अव्रणम्'** व्रणादि से रहित हैं। **अस्नाविरम्**—नस नाड़ियों से वह शून्य हैं। व्रणों व नस नाड़ियों का सम्बन्ध शरीर से ही तो है ? शरीर नहीं तो ये कहाँ से ?

प्रभु का जैसे शरीर से सम्बन्ध नहीं उसी प्रकार उन का सम्बन्ध मन से भी नहीं। मन भी सूक्ष्म शरीर का अंग ही तो है। मन में कुछ मलिनता व रजस् व तमस् का प्रादुर्भाव हो ही जाता है। वे प्रभु तो मन से रहित हैं, सो **शुद्धम्**—पूर्ण शुद्ध हैं और **अपापविद्धम्**—पाप से विद्ध नहीं होते। **'अघशंस'** व्यक्ति हमारे मनों को पाप विद्ध कर देते हैं—प्रभु ऐसी सम्भावनाओं से ऊपर हैं। न उनमें शरीर विकार है न मानसविकार। वहाँ तो शरीर व मन हीं नहीं हैं। **कविः**—वे प्रभु क्रान्तदर्शी हैं—प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जानते हैं। लोक में जो-जो व्यक्ति जितना जितना बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनता चलता है उतना ही उसका दृष्टिकोण व्यापक व सत्य होता है। उनका दृष्टिकोण पूर्ण सत्य है। वे प्रभु **मनीषी**—विद्वान् व पूर्ण-ज्ञानी हैं। **परिभूः**—चारों ओर सर्वत्र होने वाले हैं। उनके कवित्व व मनीषित्व का रहस्य इस परिभू-पद में ही है।

इस प्रभु को किसने जन्म दिया ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वे **'स्वयम्भूः'**—स्वयं होने वाले हैं; उनका कोई जन्म देने वाला नहीं। और वास्तविकता तो यह है कि वे शरीर-बन्धन में आते-जाते ही नहीं। वह आना-जाना जीव के लिए ही सम्भव है जो कि व्यापक सत्ता वाला नहीं।

'ये स्वयम्भू' प्रभु **शाश्वतीभ्यः**—सनातन **समाभ्यः** प्रजाओं के लिये **याथा-तथ्यतः**—ठीक-ठीक **अर्थान्**—सब बातों व चीज़ों का **व्यदधात्**—प्रतिपादन व सम्पादन करते हैं। यह तो जीव की ही कमी है कि उन पदार्थों का वह ठीक प्रयोग नहीं करता—वह प्रभु की प्रेरणा को नहीं सुनता और कष्ट का भागी होता है।

भावार्थ—हम इस तत्त्व को समझें कि जो जितना व्यापक है वह उतना ही शुद्ध है। यह समझ कर हमारा ध्येय भी 'व्यापक दृष्टिकोण वाला बनना' ही हो जाय।

९. विद्या और अविद्या

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः।

ये जो (अविद्याम्) प्रकृति (उपासते) विद्या की उपासना करते हैं (अन्ध-

न्तमः) घने अन्धेरे में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं। (ततः) उससे (भूय इव) अधिक ही (तमः) अन्धेरे को (ते) वे प्राप्त होते हैं (ये उ) जो निश्चय से (विद्यायाᳬ रताः) ब्रह्मविद्या में फंसे हुए हैं।

Those who pursue material knowledge (Avidya) alone enter blind darkness and they who are entangled in spiritual knowledge alone fall into even greater darkness.

प्रभु को समझने के लिए अब पराविद्या व अपराविद्या से प्रकरण को प्रारम्भ करते हैं। यहाँ मन्त्रार्थ को समझने के लिये उपनिषद् का यह वाक्य स्मरणीय है कि **'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापराच'** परा और अपरा दोनों ही विद्यायें समझनी चाहियें। परा वह है जिससे कि उस अक्षर, अविनाशी प्रभु का ज्ञान होता है अर्थात् ब्रह्मविद्या व आत्मविद्या ही 'पराविद्या' है। आत्मतत्त्व से प्रकृति-तत्त्व अपर है सो उसका ज्ञान भी 'अपराविद्या' नाम से कहा गया है। दोनों का ही ज्ञान आवश्यक है तो अपने स्वरूप को जानने के लिए आत्मज्ञान नितान्त आवश्यक है। 'अपराविद्या' और 'पराविद्या' इन दोनों शब्दों में से 'परा' इस सामान्य शब्द को हटा देने पर बेशक 'अविद्या' और 'विद्या' हो गये हैं। यहाँ मन्त्र में इन्हीं का प्रयोग है। ये जो **अविद्याम्**—प्रकृति विद्या की **उपासते**—उपासना करते हैं। (क) वर्तमान संसार में वैज्ञानिक आणविक अस्त्रों से व्याकुल हो उठे हैं। उनको सूझता नहीं कि इनका क्या करें और क्या न करें। (ख) बड़े-बड़े दैत्याकार यन्त्र बनकर इतनी तीव्रता से वस्तुओं का निर्माण कर रहे है कि उनकी बिक्री के लिए मण्डी (Market) का मिलना दुष्कर हो रहा है। मनुष्यों का स्थान यन्त्रों ने लिया है और इस प्रकार मनुष्य को अप्राप्त-कार्य (Unemployed) कर दिया है। इस प्रकार इस प्रकृति विद्या ने कितनी ही परेशानियां उपस्थित कर दी हैं।

पर क्या ब्रह्म विद्या का कोई कृष्णपार्श्व नहीं है? क्यों नहीं, इसका कृष्ण-पार्श्व और भी अधिक कृष्ण है। भारतीयों का सुझाव आत्मा की ओर अधिक हो गया। वे प्रतिक्षण आत्मा की उपासना में ही बिताने लगे और जब वे परमात्मा की ही रट लगाने में तन्मय थे, इनका ध्यान प्रभु की ही ओर था तो विदेशियों ने अवसर पाकर चुपके से इनके पांव तले से भूमि को खिसका लिया। भारतीयों का ध्यान गया तो इन्हें परतन्त्रतापाश में जकड़ने वालों ने कहा 'आत्मा ही तो सत्य है, उसे तुम रखो। इस मिथ्या संसार को हमें दे डालो। तुम्हारे से फेंकी हुई वस्तु को ही हमने लिया है, तुम्हारे सत्य में हम हस्तक्षेप नहीं कर रहे।' बस इस आत्मरति ने भारतीयों को हज़ार वर्ष तक गुलाम रखा और भूखों मारा। एवं मन्त्र के शब्दों के अनुसार **ततः** उन प्रकृति विद्या के उपासकों से भी **भूय इव**—अधिक ही **तमः**—अन्धकार को वे प्राप्त करते हैं **ये उ**—जो निश्चय से **विद्यायाᳬ रता**—ब्रह्मविद्या में फंसे हुए हैं।

भावार्थ—प्रकृतिविद्या का उपासक अन्धेरे में प्रवेश करता है तो ब्रह्मविद्या का उपासक उससे भी घने अन्धेरे में पहुंचता है।

१०. विलक्षण फल

अन्यदेवाहुर्विद्यायाः अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद् विचचक्षिरे॥

(विद्यायाः) आत्मिक विद्या का (अन्यत् एव) विलक्षण ही फल (आहुः) कहते हैं। पर (अविद्यायाः) प्रकृति विद्या के भी तो (अन्यत्) विलक्षण फल को (आहुः) कहते हैं। (इति शुश्रुम) इस प्रकार हमने सुना है उन (धीराणां) ज्ञानियों से (ये) जो (नः) हमारे लिये (तद्) इस बात का (विचचक्षिरे) प्रतिपादन करते हैं।

Wonderful is the fruit of spiritual knowledge Vidya as also of material knowledge Avidya ; thus have we heard from the wise who explained these matters to us.

विद्यायाः—आत्मविद्या का **अन्यत् एव**—विलक्षण ही फल **आहुः**—कहते हैं। योगदर्शन का विभूतिपाद आत्मविद्या के फलों का परिगणन करता हुआ **'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्ति प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः'** इन शब्दों में विशिष्ट सिद्धियों का उल्लेख करता है। लघिमा—हलकेपन की सिद्धि के कारण ही एक व्यक्ति पानी पर भी उसी प्रकार चल लेता है जैसे कि सामान्य व्यक्ति स्थल पर। इसी घटना को देखकर अंग्रेजों ने भारतीयों के चमत्कार से घबरा कर रणजीत सिंह से सन्धि कर ली थी। आत्मविद्या के चमत्कार निश्चित विलक्षण हैं। पर **अविद्यायाः**—प्रकृति विद्या के भी तो **अन्यत्**—विलक्षण फल को **आहुः**—कहते हैं। पानी और अग्नि को वशीभूत करके किस प्रकार यन्त्र चलने लगे। विद्युत् के वशीकरण ने तो हद ही कर दी। हजारों मील दूर बैठे पुरुष से बात भी हो सकती है— आकृति भी देखी जा सकती है। भाषण इस तरह सुने जाते हैं जैसे कि एक फुट पर ही कोई व्यक्ति बोल रहा हो। बेतार की तार एक अद्भुत चमत्कार है। सब काम स्वयं करती हुई मशीन मनुष्य को हैरान ही कर देती है। मनुष्य से बनायी गयी मशीन मनुष्य की अपेक्षा गुणा भाग आदि के प्रश्नों को शीघ्रता से हल कर देती है। युद्ध के यन्त्र भयंकर अवश्य हैं—परन्तु कितने विस्मयकारक हैं। **इति**—इस प्रकार विद्या और अविद्या दोनों के ही फल विलक्षण हैं, हमने उन **धीराणां**—ज्ञानियों से सुना है **ये**—जो **नः**—हमारे **लिये तद्**—इस बात का **विचचक्षिरे**—प्रतिपादन करते हैं।

भावार्थः—भौतिक व आत्मिक दोनों ही ज्ञानों के विलक्षण फल हैं। भौतिक ज्ञान क्लोरोफार्म आदि के द्वारा हमें अचेतन करके पीड़ा का अनुभव नहीं होने देता तो आत्मज्ञान हमें सदेह होते हुए भी विदेह बनाकर पीड़ा से ऊपर उठा देता है।

११. मृत्यु से तैरना व अमर बनना

विद्यांचाविद्यांच यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

(यः) जो (विद्यां च अविद्यां च) आत्म विद्या और सृष्टि विद्या (तद् उभयं) इन दोनों को (सह वेद) साथ-साथ जानता है वह (अविद्यया) सृष्टि विद्या से (मृत्युं तीर्त्वा) मृत्यु को तैर करके (विद्यया) आत्मज्ञान से (अमृतं अश्नुते) अमरता को प्राप्त करता है।

He who knows, side by side, both spiritual knowledge and material knowledge overcomes death by the latter and obtains immortality by the former.

उल्लिखित विलक्षण फलों वाली **विद्यांच** आत्मविद्या को और **अविद्यांच** प्रकृति विद्या को **यः** जो **तद् उभयं** उन दोनों को **वेद** साथ-साथ जानता है, वह **अविद्यया** सृष्टि विद्या से **मृत्युं तीर्त्वा** मृत्यु को तैर करके **विद्यया** आत्म ज्ञान से **अमृतं** अमरता को **अश्नुते** प्राप्त करता है।

मनुष्य दो कारणों से मुख्यतया मृत्यु का ग्रास हो जाता है। एक तो अकाल पड़ जाने से भूखों मर कर, और दूसरे बीमारियों का शिकार होकर। प्रकृति विद्या व विज्ञान ने एक बीघे में २ मन के स्थान पर २० मन अन्न को उपजा कर भूखे मरने के प्रश्न को समाप्त ही कर दिया है, साथ ही मक्खी मच्छरों को समाप्त करके मलेरिया आदि बीमारियों को भी समाप्त कर दिया है। इंग्लैंड आदि राष्ट्रों में प्लेग आदि बीमारियां अब नाम शेष ही रह गई हैं। साथ ही औषधविज्ञान की उन्नति ने टी-बी आदि बीमारियों का भी प्रतिकार कर दिया है और इन बीमारियों की भयंकरता समाप्त ही हो गई है। एवं मनुष्य प्रकृतिविद्या से मृत्यु को तैर गया है। शल्यचिकित्सा के चमत्कारों ने मानवजीवन को दीर्घ कर दिया। संक्षेप में विज्ञान ने मनुष्य के लिये प्रकृति को बड़ा सुखद व सुन्दर बना दिया है। मनुष्य को प्रकृति निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। कई बार तो मनुष्य किसी वस्तु के लिये इतना लालायित हो उठता है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह उसके बिना मर ही जायेगा। बस, आत्मस्वरूप का चिन्तन ही उसे इस मरने से बचायेगा। सो मन्त्र में कहते हैं कि **विद्यया** आत्मज्ञान से **अमृतं** अमरता को **अश्नुते** पाता है।

एवं प्रकृतिविद्या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं को न्यूनता नहीं होने देती और आत्मविद्या उसे न वस्तुओं के मात्रातीत प्रयोग से बचाती है। प्रकृतिविद्या (Underfed) हीन भोजन वाला नहीं होने देती, क्षीण भोजनता को दूर करती है और आत्मविद्या से वह (Overfed) नहीं होता, अतिभोजन की ओर नहीं जाता।

प्रकृतिविद्या जीवन की मोटर में एन्जिन है तो आत्मविद्या ब्रेक का काम करती है। प्रकृतिविद्या के बिना तो जीवन की गाड़ी चलती नहीं। पर आत्मविद्या न हो तब भी तो यह कहीं न कहीं टकराकर टूट ही जाती है। सो हमें अपने जीवनों में दोनों का ही सम्बन्ध करके चलना है। प्रत्येक गृहस्थ अपनी सन्तानों को विज्ञान की शिक्षा अवश्य दिलवाये और अपने साथ धार्मिक सत्संगों में भी उन्हें अवश्य ले जाये। वैज्ञानिक युवक भूखा न मरेगा और आध्यात्मिक वृत्ति वाला होने से विषयासक्त न होगा। विज्ञान विषयों को उपस्थित करता है, आत्मविद्या उन विषयों में विचरते हुए भी मनुष्य को उनके बन्धन से बचाती है।

भावार्थः—हम अविद्या से मृत्यु को तैरें और विद्या से अमरता का लाभ करें। विद्या से हम विषयों की आपात रमणीयता को जानेंगे और विषयों के पीछे मरेंगे नहीं।

१२. अन्धेरा और घना अन्धेरा

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूयइवते तमो यउ सम्भूत्यांॅ रताः ।।

(यः) जो (असम्भूतिम्) व्यक्तिवाद की (उपासते) उपासना करते हैं वे (अन्धन्तमः) घने अन्धेरे में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं। (ये उ) और जो (संभूत्यां) समाजवाद में (रताः) फंसे हुए हैं। (वे) वे (ततः) उससे (भूय इव) कुछ अधिक ही (तमः) अन्धेरे में पहुंचते हैं।

Those who worship individualism alone fall into blind darkness and those who are devoted to social service exclusively fall into still greater darkness.

'सम' शब्द का अर्थ होता है 'मिल कर' और '**भूति**' होना। मिलकर होना अर्थात् व्यक्तित्व को अलग न समझकर समाज को ही सब कुछ समझना '**सम्भूति**' है। और इसके विपरीत व्यक्ति को ही प्रधानता दे देना '**असम्भूति**' है। इसमें व्यक्ति केवल निजी हित को देखता है। सामाजिक हित को वह उपेक्षित कर देता है। मंत्र में कहते हैं कि ये जो '**असम्भूति**' व्यक्तिवाद की '**उपासते**' उपासना करते हैं वे '**अन्धन्तमः**' घने अन्धेरे में **प्रविशन्ति** प्रवेश करते हैं। इसका प्रत्यक्ष तो भारत के गत सहस्र वर्षों के इतिहास में हो ही रहा है। चूंकि वहां राजाओं ने केवल अपने २ छोटे राज्य को देखा, देश के दृष्टिकोण से वे न सोच सके। परिणामतः दिल्ली पराजित हुई, कुछ दिनों बाद मथुरा और फिर उज्जैन। और इस प्रकार एक २ करके सभी पराजित हो गये। देश हजारों सालों के लिए गुलाम हो गया। वर्त्तमान में भी रिश्वत क्यों है? 'मेरा कार्य जरा पहले हो जाय' यही भावना तो कार्य करती है। राष्ट्र का नैतिक पतन हमें भूल जाता है। अपने काम से मतलब रहता है। लेने वाला भी अपनी ही जेब को देखता है। राष्ट्रीय पतन की उसे परवाह नहीं रहती।

भारुण्ड पक्षी की कथा में एक मुख अमृततुल्य फल का दूसरे को आनन्द नहीं लेने देता। फिर दूसरा मुख भी उसे मारने की करता है और रोकने पर भी विषफल को खाता है और इस प्रकार दूसरे को तो मार लेता है पर स्वयं भी तो मर जाता है। एवं व्यक्तिवाद में अन्त में अन्धेरा है।

पर क्या अकेला समाजवाद कल्याण कर सकता है। उत्तर यह है कि कल्याण का प्रश्न तो दूर रहा, मंत्र तो कहता है कि **ये** और **सम्भूत्यां** समाजवाद में रताः फंसे हुए हैं **ते** वे **ततः** उस व्यक्तिवादी की अपेक्षा **भूय इव** कुछ अधिक ही तमः अन्धेरे में (**प्रविशन्ति**) पहुंचते हैं केवल समाजवाद को अपनाने वालों की गति व्यक्तिवादियों से अधिक हीन होती है। कारण यह कि व्यक्ति को बिल्कुल उपेक्षित कर देने के कारण व्यक्ति की उन्नति समाप्त हो जाती है और चूंकि व्यक्ति ने ही तो समाज को बनाना है सो व्यक्ति की निर्बलता का परिणाम यह होता है कि समाज एकदम निर्बल हो जाता है। ईंटें कमजोर होंगी तो दीवार मजबूत थोड़े ही होगी। वर्तमान काल में एशिया में समाजवाद ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुछ अधिक कुचल दिया और परिणामतः वहां अधिनायकवाद ने आकर कितने ही योग्य व्यक्तियों को

समाप्त कर दिया व कैद में डाल दिया। वह सब चीज राष्ट्र के लिये हानिकारक ही हुई।

भावार्थः—व्यक्तिवादी अन्धकार में जाता है तो समाजवादी और भी अधिक अन्धेरे में।

१३. व्यक्तिवाद व समाजवाद का चमत्कार

अन्यदेवाहुः संभवात् अन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणाम् येनस्तद् विचचक्षिरे॥

(संभवात्) समाजवाद से (अन्यदेव) विलक्षण ही फल (आहुः) कहते हैं। (असंभवात्) व्यक्तिवाद से भी (अन्यत् आहुः) विलक्षण ही फल कहा गया है। (इति शुश्रुमः) यह बात हमने सुनी है (धीराणां) उन ज्ञानियों से (ये) जो (नः) हमें (तद्) इस विषय में (विचचक्षिरे) विशेष रूप से बताते हैं।

Wonderful is the fruit of socialism as also of individualism; thus have we heard from the wise who handed these matters to us.

संभवात्—समाजवाद से—मिलकर चलने से—संभूति से, **अन्यत्**—विलक्षण ही फल **आहुः**—कहते हैं, **असंभवात्**—व्यक्तिवाद से भी, **अन्यत् आहुः**—विलक्षण ही फल कहा गया है। **ये**—जो विद्वान् **नः**—हमें **तद्**—इस व्यक्तिवाद व समाजवाद को, **विचचक्षिरे**—स्पष्ट रूप से बतलाते हैं, उन **धीराणां**—ज्ञान के देने वालों से **इति**—यह बात **शुश्रुम**—हमने सुनी है।

समाजवाद के विलक्षण फल इतिहास में रूस व चीन की आधुनिक उन्नति से सुव्यक्त हैं। इङ्गलैंड आदि राष्ट्रों में भी व्यक्ति राष्ट्र के प्रति उदात्त भावना से भरा हुआ है। तभी वे राष्ट्र संसार में सिर ऊंचा किए हुए हैं। इस समाजवाद के परिणाम स्वरूप १९०४ में जापान ने अपने से आकार में कितने ही गुणा बड़े रूस को पराजित कर दिया था। मिलकर चींटियाँ भी हाथी को समाप्त कर देती हैं। सारी मानव जाति यदि एक विचार की हो जाय तो प्रभु को भी परास्त कर सकती है।

व्यक्तिवाद के फल की विलक्षणता शारीरिक दृष्टि से गामा जैसे पहलवानों में प्रकट होती है। बौद्धिक दृष्टिकोण से यह जौन्सन जैसे बौद्धिक दैत्यों में (intellectual giants) में प्रकट होती है और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से हजारों वर्षों तक समाधि द्वारा जी सकने वाले योगी इस व्यक्तिवाद के विलक्षण फल को व्यक्त कर रहे हैं।

भावार्थ—व्यक्तिवाद व समाजवाद दोनों के ही फल विलक्षण हैं।

१४. व्यक्ति व समाज का समन्वय

संभूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ।।

(संभूतिञ्च) समाजवाद को व (विनाशञ्च) व्यक्तिवाद को (यः) जो (तद् उभयं) उन दोनों को (सह वेद) साथ २ प्राप्त करता है वह (विनाशेन) व्यक्तिवाद से (मृत्युं तीर्त्वा) मृत्यु को तैर कर के (संभूत्या) समाजवाद से (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त करता है।

He who follows, side by side both individualism and socialism overcomes death by individualism and obtains immortality by socialism.

ऊपर दो बातें देखी जा चुकी हैं। (१) संभूति व असम्भूति के फल चामत्कारिक और (२) अलग-अलग वे दोनों ही मनुष्य को अन्धेरे में ले जाते हैं। तो 'ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए ?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र इन शब्दों में देता है कि **संभूतिच**—संभूति व समाजवाद को **विनाशंच**—(वि-नश्)भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाना मिलकर न चलना अर्थात् व्यक्तिवाद को **यः**—जो **तद् उभयं**—उन दोनों को **सह वेद**—साथ-साथ प्राप्त करता है। (विद् लाभे) वह व्यक्ति **विनाशेन** व्यक्तिवाद से **मृत्युं तीर्त्वा**—मृत्यु को तैर करके **संभूत्या** समाजवाद से **अमृतम्**—अमरता को **अश्नुते**—प्राप्त करता है।

'सह वेद' इन शब्दों से व्यक्ति व समाज को मिला देने का संकेत है। प्रत्येक हितकारी नियमों में व्यक्तिवाद को ही स्थान मिलना चाहिये तो समाज हितकारी बातों में प्रमुखता समाज की रहनी चाहिए। 'शौच-सन्तोष-तप स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान' इन नियमों के पालन में व्यक्ति स्वतन्त्र है तो 'अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह' इन यमों के पालन में वह परतन्त्र है। नियमों का पालन नहीं करेगा तो व्यक्ति ही हानि उठायेगा। पर यमों का पालन न करे तो समाज की ही हानि है सो इनके पालन व न पालन में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं। इनका पालन तो उसे करना ही होगा।

शौच-संन्तोष आदि का पालन करता हुआ वह असमय की मृत्यु से बचेगा तो अहिंसा आदि के अनुष्ठान से वह अपने समाज को अमर बना पायेगा। आजकल की भाषा में व्यक्ति वैध उपायों से कमाने के लिए स्वतन्त्र है, पर कर देना यह उसकी इच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता। 'गृहस्थ बने वा न बने' इतने अंशों में व्यक्ति स्वतन्त्र है। पर ब्रह्मचर्य पालन करे या न करे—'संयत जीवन वाला हो या न हो' यह उसकी इच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता। असंयम से वह कितने ही घरों को बरबाद करेगा। एवं व्यक्तिवाद व्यक्ति को उन्नत करता है और समाजवाद इस उन्नत व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी बनाता है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में व्यक्तिवाद व समाजवाद का समन्वय हो।

१५. आवरण का हटाना

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।

The face of truth is covered by a golden lid, O universal nourisher, remove that we may be able to follow the truth and see things in their true light.

(हिरण्मयेन पात्रेण) स्वर्ण के बने देदीप्यमान पात्र से (सत्यस्य) सत्य का (मुखम्) स्वरूप (अपिहितम्) ढका हुआ है। (पूषन्) सब का पोषण करने वाले प्रभो (त्वं) आप ही (तत्) उस आवरण को (अपावृणु) दूर करिये ताकि हम (सत्यधर्माय) सत्य को धारण कर सकें व (दृष्टये) प्रत्येक वस्तु के वास्तविक रूप को देख सकें।

मनुष्य गत मन्त्रों में वर्णित 'विद्या व अविद्या' में तथा सम्भूति व असम्भूति में प्रायः अविद्या की ओर तथा असंभूति की ओर झुक जाता है। उसका कारण यह है कि **'हिरण्मयेन पात्रेण'** स्वर्ण से बने देदीप्यमान पात्रसे **सत्यस्य** सत्य का **मुखम्** स्वरूप **अपिहितम्** ढका हुआ है। यह संसार की सीपी (शुक्ति) चमकती है और हम इसे चाँदी समझ बैठते हैं। यह विषय रूप ताम्र चमकता पीला प्रतीत होता है और हम इसे शुद्ध स्वर्ण के रूप में देखते हैं। विषयों की आपात रमणीयता से उनका पर्यन्तपरितापिता छिपी रहती है। विष का माधुर्य उसके विषत्व को विस्मृत करा देता है। संसार चमकता है और उस चमक को ही हम सत्य मान लेते हैं। हमें यह उक्ति भूल जाती है कि (All that glitters is not gold) सब चमकने वाली चीज स्वर्ण नहीं है।

वर्त्तमान में मनुष्य की आँखें विज्ञान की चमक से चुंधिया गई हैं। वह केवल अविद्या में फंस गया है, विद्या से वह दूर हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ में फंसा जा रहा है; परार्थ से वह नितान्त विमुख है। यह सब मोह का परिणाम है। प्रभु कृपा से ही यह मोह का आवरण हटेगा। सो मन्त्र में कहते हैं कि ऐ **पूषन्** सबका पोषण करने वाले प्रभो **त्वं** आप ही **तत्** उस आवरण को **अपावृणु** दूर करिये ताकि हम **सत्यधर्माय** सत्य को धारण कर सकें। उपरली चमक से ही हम विमुग्ध हो न जायें, **दृष्टये** चीज के वास्तविक रूप को देख सकें। जब प्रभु कृपा होती है और हमारी आखों पर से मोह का आवरण दूर हो जाता है तो हम प्रकृतिविद्या के कारण इन चीज़ों का अतियोग न करके यथायोग ही करते हैं तथा केवल व्यक्तिवाद में न फंस कर वैयक्तिक दृष्टिकोण से उन्नत होकर समाजहितकारी विषयों का पालन करते हुए वैयक्तिक सुखों में नहीं फंस जाते। हमारा ज़ीवन सत्य का धारण करने वाला होता हैं। हम सत्य का दर्शन कर रहे होते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम इस प्रकृति की चमक से मुग्ध नहीं हो जाते। और सत्य को धारण करने में तथा तात्त्विक दृष्टि को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

१६. कल्याणतम रूप का दर्शन

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह । तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

(पूषन्) ऐ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पोषण करने वाले (एकर्षे) अद्वितीय ज्ञानी (यम) सबका नियमन करने वाले (सूर्य) सभी को प्रकाश व प्रेरणा देने वाले (प्राजापत्य) सब प्रजाओं का कल्याण करने वाले प्रभो आप (रश्मीन्) हमारी ज्ञान व तेज की किरणों को (व्यूह) खूब विस्तृत कीजिये (समूह) और केन्द्रित करिये । ऐसा होने पर ही (ते यत्) आपका जो (कल्याणतमं) अत्यन्त कल्याणकारी (तेजः रूपं) तेजस्वी रूप है (ते तत्) आपके उस रूप को (पश्यामि) मैं देखता हूँ । (यः) जो (असौ असौ) एक २ प्राणी में (पुरुष) पुरुष है वह (अहम्) सर्वव्यापक (अस्मि) हूँ ।

O Nourisher, Uurivalled Seer, Controller of all, Giver of light and guidance, Benefactor of all, spread and focus the rays of our knowledfie and light. It is only there that I get the vision of Thy extremely Blissful and Effulgent Self. He that dwells in each being is All-pervading.

गत मंत्र के अनुसार आवरण के हट जाने पर प्रभु के कल्याणतम रूप का दर्शन होता है । यह दर्शन करने वाला प्रभु से प्रार्थना करता है कि **पूषन्** ऐ संपूर्ण ब्रह्माण्ड का पोषण करने वाले, **एकर्षे** अद्वितीय ज्ञानी **यम** सबका नियमन करने वाले **सूर्य** सभी को प्रकाश व प्रेरणा के देने वाले और इस प्रकार **प्राजापत्य** सब प्रजाओं का कल्याण करने वाले प्रभो ! आप **रश्मीन्** हमारी ज्ञान की किरणों को **व्यूह** खूब विस्तृत कीजिये व उसे क्रम में स्थापित कीजिए अर्थात् हमारा ज्ञान आपकी कृपा से वैज्ञानिक रीति से सुसम्बद्ध हो । तथा आप हमारी **रश्मीन्** तेजस्विता की रश्मियों को **समूह** केन्द्रित करिये । **'रश्मीन्'** शब्द ज्ञान व तेज दोनों की किरणों के लिये प्रयुक्त हुआ है । प्रभु कृपा से जहाँ हमारी ज्ञान की रश्मियां विस्तृत हों वहाँ हमारी शक्ति बिखर न जाय । ज्ञान का विस्तार व शक्ति का केन्द्रीकरण यह उन्नति मात्र के लिये आवश्यक है ।

ऐसा होने पर ही ऐ प्रभो ! आपकी कृपा से **ते यत्** आपका जो **कल्याणतमं** अत्यन्त कल्याणकारी **तेजः रूपं** तेजस्वी रूप है **ते तत्** आपके उस रूप को मैं **पश्यामि** देखता हूँ । उस हिरण्मय पात्र ने ही तो प्रभु के रूप को हमारे से छिपाया हुआ था । आवरण हटा दिया और प्रभु के तेजस्वी रूप का दर्शन हुआ । यह रूपदर्शन कल्याणतम तो है ही चूंकि इस रूप के दर्शन से पापमात्र का विध्वंस तो हो ही जाता है, एक अद्भुत आनन्द का भी अनुभव होता है ।

इस प्रभु के रूप का दर्शन इस प्रकार होता है कि **यः** जो **असौ** एक प्राणी में अर्थात् सब प्राणियों में वर्तमान **पुरुषः** पुरुष है **सः** वह **अहम्** (अह् व्याप्तौ) सर्वव्यापक **अस्मि** है । 'अस्मि' शब्द यहाँ क्रियावाचक न होकर निपात है । प्रभु की महिमा सर्वत्र दिखती है । कण २ में उसका रचना सौन्दर्य प्रतीत होने लगता है । इस रूप को देखकर द्रष्टा भी वैसा ही बनने का प्रयत्न करता है ।

भावार्थ—आवरण के हटने पर प्रभु का कल्याणतम तेजस्वी रूप दिखने लगेगा । सर्वत्र उस प्रभु की महिमा का ही दर्शन होगा ।

१७. शरीर व आत्म दर्शन

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतोस्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥

(वायु:) क्रियाशील आत्मा (अनिल) भौतिक नहीं और इसीलिये (अमृतम्) अविनश्वर है। (अथ) दूसरी ओर (इदं शरीरम्) यह शरीर (भस्मान्तं) भस्म रूप परिणाम वाला है। (क्रतो) ऐ यज्ञादि कर्मों द्वारा शक्ति का संचय करने वाले जीव (ओ३म् स्मर) तू उस रक्षक प्रभु का स्मरण कर (क्लिबे स्मर) शक्ति प्राप्ति के लिये स्मरण कर (कृतं स्मर) अपने कर्त्तव्य कर्म का स्मरण कर।

The active soul is not made of matter and is therefore immortal. The body, on the other hand ends in ashes. O ceaseless performer of good action, remember God, the protector, for strengthening yourself and remember your duties.

'आत्मा' शब्द **अत् गतौ** धातु से बना है, इस का ठीक पर्यायवाची शब्द '**वा गतौ**' से बना हुआ 'वायु' है। ये दोनों ही नाम जीव को उस के स्वभाव की सूचना दे रहे हैं। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है, उष्णता के बिना अग्नि कुछ नहीं; इसी प्रकार 'जीव'हो, और गतिशील न हो, यह नहीं हो सकता। वह तो आत्मा है, वह 'वायु' है। 'अत सातत्यगमने' सतत गमन वाला आत्मा है, क्रिया के द्वारा बुराई का हिंसन करने वाला 'वायु' है। यह आत्मा '**अनिलं**' (न इला) पार्थिव नहीं, भौतिक नहीं। पार्थिव न होने से ही तो वह **अमृतम्** अविनश्वर है। भौतिक चीज नश्वर है, अभौतिक अनश्वर। इस प्रकार संकेत इस बात का भी हो गया कि यदि हम भौतिक से ऊपर उठेंगे तो मृत्यु से भी बच पायेंगे। साथ ही यह सर्वानुभव सिद्ध बात है कि अतिभोजन हमें लेटने के लिये बाधित करता है, मितभोजन हमारे जीवन में स्फूर्ति का कारण होता है। एवं वायु और अमृतम् के बीच में पड़ा हुआ'**अनिलं**'शब्द दोनों बातों का संकेत कर रहा है कि (क) अपार्थिवता अभौतिकता, हमें अधिक क्रियाशील बनाती है (ख) और यही अभौतिकता हमें मृत्यु से भी बचाती है।

हमारी प्रवृत्ति भौतिक न हो इसके लिए शरीर के स्वरूप का चिन्तन कितना सहायक हो जाता है। सो मंत्र में कहते हैं। **अथ**—आत्मा अमर है तो दूसरी ओर **इदं शरीरं** यह शरीर **भस्मान्तं**—भस्मरूप परिणाम वाला है। इस मिट्टी में मिल जाने वाले शरीर के भोगों के लिए ऐसा लालायित क्यों होना ? जिस ने साथ ही नहीं देना उसके लिए इतना भी क्या हाथ-पैर मारना। कितना व्यर्थ है उस नश्वर शरीर के व्यर्थ के भोगों के लिए छलछिद्र करना।

ऐ **क्रतो**(क्रतु यज्ञ,Power)यज्ञादि कर्मोंके द्वारा शक्ति का संचय करनेवाले जीव **ओं स्मर** तू उस प्रभु रक्षक का स्मरण कर। इसका स्मरण ही तुझे भोगों में फंसने से बचने की शक्ति देगा। **क्लिबे स्मर** तू इसलिए स्मरण कर कि तुझे शक्ति प्राप्त हो। **क्लृपू सामर्थ्ये** से बना क्लिब शब्द सामर्थ्य का वाचक है। प्रभु स्मरण से शक्ति प्राप्त होती है। आचार्य दयानन्द प्रातः सायं प्रभु से अपना सम्पर्क स्थापित करके अपने जीवन की बैटरी को फिर से भर लेते थे। इसी प्रकार सब मनुष्य अपने में शक्ति भरने का यत्न करते हैं, वस्तुतः इसीलिए वे महापुरुष बन पाते हैं। आधुनिक युग में

गांधी जी की प्रार्थना यही कार्य करती थी। उन में नयी शक्ति का संचार कर देती थी।

इसको प्राप्त करके तू अपने **कृतं**—कर्त्तव्य कर्म का स्मरण कर। 'प्रभु स्मरण से शक्ति, शक्ति से कर्म' यह है क्रम जो कि इस कार्य-कारणभाव को स्पष्ट करता है। हमने अधिकार चर्चायें नहीं करनी, कर्त्तव्य का ही स्मरण करना है। कर्म में ही हमारा अधिकार है फल में नहीं।

भावार्थ:—आत्मा की अपार्थिवता को और शरीर की भस्मान्तता को स्मरण करें ताकि हमारा जीवन तमोगुणप्रधान न हो। प्रभु का स्मरण करें ताकि शक्ति प्राप्त करके अपने कर्त्तव्य को सुचारु रूपेण निबाह सकें।

१८. निष्पापता

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥

(अग्ने) ऐ आगे ले जाने वाले प्रभो (अस्मान्) हम सबको (राये) धन के (सुपथा नय) उत्तम मार्ग से ले चलिये (देव) हे दिव्य मार्ग को दिखलाने वाले प्रभो! (विश्वानि वयुनानि) हमारे सब कर्मों को (विद्वान्) आप जान रहे हैं। (अस्मत्) हमारे से (जुहुराणम्) कुटिलता को (एनः) व पाप को (युयोधि) पृथक् करिये। ऐसी कृपा के लिए (भूयिष्ठां) बहुत ही अधिक (ते) तेरे प्रति (नम उक्ति) नमन के वचन (विधेम) कहते हैं।

O Eternal Guide, lead us on to true wealth through. the path of righteousness. Thou knowest all our actions Save us from sin and crookedness. For this act of Thy kindness we offer Thee our profuse and humble salutations.

'धन' संसार का पर्यायवाची-सा शब्द बन गया है। कोई भी कार्य धन के बिना नहीं हो पाता। **यजुर्वेद** में प्रतिपादित सब यज्ञादि उत्तम कर्म भी तो धन से ही होते हैं। सो धन अत्यन्त आवश्यक है, पर यही हमें **अशुचि** बना कर **निधन** (मृत्यु) की ओर भी ले जाता है। **साधनभूत** धन प्रायः हमारे जीवनों में साध्य का स्थान ले लेता है। यह हमारे प्रयोजन का साधक व सेवक नहीं रहता, हम ही इस के सेवक हो जाते हैं। हम इसके पति नहीं, अपितु यह हमारा पति हो जाता है और हमें पीस डालता है। उस समय हम टेढ़े-मेढ़े सभी साधनों से इसे कमाने लगते हैं। सब कर्त्तव्य कर्मों को भूल-से जाते हैं। सच तो यह है कि कुछ अन्धे-से हो जाते हैं। सो मंत्र में प्रार्थना करते हैं कि—हे **अग्ने** आगे ले चलने वाले प्रभु! कभी भी न भटकने देने वाले प्रभो! **अस्मान्** हम सब को **राये** धन के लिए, उस धन के लिये (**रा दाने**) जो कि वस्तुतः दान देने के लिए है, यज्ञों में विनियोग के लिए है, **सुपथा नय** उत्तम मार्ग से ले चलिये। हम कभी भी धन की चमक के वशीभूत होकर अन्याय मार्ग से इस के कमाने का विचार न करें। **ऐ देव** दिव्य मार्ग को दिखलाने वाले प्रभो! **विश्वानि वयुनानि** आप तो हमारे सब कार्यों व संकल्पों को **'विद्वान्'** जान रहे हैं। सो जिस भी समय हमारे मस्तिष्क में गलत रास्ते से धन कमाने का विचार भी उठे उसी समय वहीं उसे समाप्त कर दें। न विचार बीज ही रहेगा और

न ही रही कर्मांकुर उत्पन्न होगा। Nip the evil in the bud इस बुराई को तो आप गर्भ में ही समाप्त कर दीजिये। अज्ञानपुष्प ही न रहेगा तो कर्मांकुर होगा ही कैसे ? **अस्मात्** हमारे से जुहुराणं कुटिलता को तथा **एनः** पाप को **युयोधि** पृथक् करिये। हम न तो कुटिलता से ही धन कमावें और न ही पाप की कमाई जुटायें। राष्ट्रीय नियमों को तोड़ना ही कुटिलता है। लाईसेन्स्ड वस्तुओं की तस्करी (Smuggling), आयकर ठीक न देने के लिये हिसाब को ठीक न दिखाना आदि सब बातें जुहुराणम् हैं। प्रभु के प्रति पाप हैं। प्रभु ने नियम बनाया कि 'स्वेदस्य' पसीने की कमाई ही तुम्हारी कमाई हो। पर मैं बिना श्रम के सट्टे के द्वारा, लौटरी टिकट्स के द्वारा रुपया कमाना चाहता हूं। यह सब 'एनस्' है। प्रभु मुझे इन दोनों से ही दूर करें। इस कार्य के लिए हे प्रभो ! हम तो आप की **भूयिष्ठां** बहुत ही अधिक **नम उक्तिं** नमन की उक्ति को **विधेम** करते हैं। हम सदा आप के प्रति नत.मस्तक होते हैं। आप की उपासना ही हमें कुटिलता व पाप से बचायेगी। अन्यथा इस धन की गुलामी से हम कहां बच पायेंगे ?

भावार्थः—ऐ प्रभु, ऐसी कृपा करो कि हम सदा सन्मार्ग से ही धन को कमावें। आप की कृपा से कुटिलता व पाप हमारे से दूर रहें।

महर्षि दयानन्द के दिव्य स्वप्नों की पूर्ति के लिए
धरती पर वैदिक विचारधारा का साम्राज्य
स्थापित करने के लिए

—••—

गीता प्रेस जैसा शक्तिशाली वैदिक
साहित्य प्रकाशन संस्थान बनाने के लिए
अधिक से अधिक सहयोग देकर

"दयानद-संस्थान" के सदस्य बनिये

१००१)	प्रति वर्ष	देकर	"संरक्षक-सदस्य"
५०१)	"	"	"पोषक-सदस्य"
२५१)	"	"	"प्रेरक-सदस्य"
१०१)	"	"	"संचालक-सदस्य"
५१)	"	"	"दाता-सदस्य"
२५)	"	"	"सहायक-सदस्य"
११)	"	"	"प्रचारक-सदस्य"

आप का सहयोग ही हमारी शक्ति है।

विनीत—
अध्यक्ष
दयानन्द संस्थान,
नई दिल्ली-५

दूरभाष : ५६६६३९